THE TIMES OF INDIA

Date:10-05-24

Coloured Questions

That not all Indians 'look' the same isn't news. But Pitroda's is a tone-deaf way to talk diversity.

TOI Editorials

We, humans, trace our genetic ancestry to Africa. But, also, we "look" different. This looking-different business is, however, a minefield created by egregious bits of past and present. So, even minimally sensible public speaking avoids this when batting for – or even against – diversity. Why Sam Pitroda chose this way to talk of India's diversity can perhaps be answered only by him. But lost in the inevitable political din that followed were voices that could intelligently talk of India's many ethnicities.

This country is a union of many ethnic groups, languages, religions and cultures, born out of waves of settlement and interaction. So, of course, there are regional variations in features and skin colour. The problem comes not from diversity, but hierarchy. India is also a highly stratified society. Having dark skin might have been celebrated in poetry, song and epics, but it is also a sensitive matter for many of us. Our appearance is judged through a lens tinted by caste and colonialism. Cinema and media images usually reflect dominant aesthetics. Many Indians still struggle to meet norms of beauty alien to their roots.

Given this, remarks about resembling African, Chinese and Arab people could blunder into hurtful territory. They are not plain descriptors, they can remind people of slurs hurled at them. The words are not the problem, their associations and affiliations are. It's telling that nobody objected to being compared to white people – social power sets the beauty standard.

There's a good way to talk about ethnic diversity, and it is based on civic respect and inclusion. Blunt comparisons like Pitroda's give ammo to those who belittle people outside the norm, on the basis of skin colour, features, disability, caste or region. Pitroda's is a celebration of diversity that diversity can do without.

दैनिक भास्कर

Date:10-05-24

केंद्रीय एजेंसियों पर उठते सवालों का कोई अंत है?

संपादकीय

केंद्र सरकार के दूसरे सबसे बड़े वकील सॉलिसिटर जनरल (एसजी) ने सुप्रीम कोर्ट की बेंच के सामने अंततः माना कि केंद्र सरकार के आदेश पर सीबीआई राज्यों में जाती है। एक हफ्ते पहले इसी बेंच से उन्होंने कहा था कि इस संस्था पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं होता। बेंच पश्चिम बंगाल सरकार की याचिका सुन रही थी, जिसमें केंद्र को पार्टी बनाते हुए आरोप लगाया गया था कि (2018 में डीएसपीई एक्ट के सेक्शन 5 (1) के तहत राज्य की अनुमति वापस लेने के बावजूद) सीबीआई को राज्य में जांच के लिए भेजा जा रहा है, जो संघीय संविधान की भावना के विपरीत है। दरअसल उक्त प्रावधान में केंद्र को कुछ अपराधों (धारा 3 में वर्णित) में एजेंसी के कार्य-क्षेत्र में विस्तार करने की शक्ति है। लेकिन इसी एक्ट का सेक्शन 6 कहता है कि बगैर राज्य की पूर्व - अनुमति एजेंसी जांच नहीं कर सकती। राज्य का आरोप है कि पहले सीबीआई आती है, फिर उसके पीछे ईडी पहुंच जाती है। याद करें कि यूपीए-2 काल में वर्ष 2013 में सुप्रीम कोर्ट की बेंच के एक जज ने कोयला घोटाले पर सुनवाई के दौरान गुस्से में कहा था कि ' सीबीआई पिंजरे में बंद तोता है'। इस कथन को तब विपक्ष की भूमिका में भाजपा ने खूब भुनाया था। इस समय पश्चिम बंगाल में सीबीआई ने जांच के लिए करीब 15 मामले दर्ज कर रखे हैं। सरकारें अपनी एजेंसियों का दुरुपयोग हमेशा से करती रही हैं, लेकिन इससे लोकतंत्र कमजोर होता है।

Date:10-05-24

प्रबुद्ध समाज को एआई से ज्यादा 'ईआई' की जरूरत

नंदितेश निलय, (वक्ता, एथिक्स प्रशिक्षक एवं लेखक)

एक फिल्म के गाने के बोल थे, मैं चाहे ये करूं, मैं चाहे वो करूं, मेरी मर्जी । मुझे यह गाना उस दिन याद् आ गया, जब मैं एक बहुत ही बड़े शिक्षण संस्थान में प्रवेश कर रहा था। मेरे ठीक आगे एक छात्र और छात्रा चल रहे थे और दुनिया से बेखबर अपने ब्लूटूथ के साथ उन्हें बिल्कुल भी यह इल्म नहीं था कि उनके आसपास कोई और भी चल रहा है। ऐक्सक्यूज मी कहता हुआ मैं निकल पड़ा और तभी मेरी नजर उस खेल के मैदान पर पड़ी, जहां इक्का-दुक्का ही कोई खेल रहा था और अधिकांश छात्र अकेले अपने फोन के साथ चिपके नजर आ रहे थे। यूनिवर्सिटी में हरियाली तो बहुत थी लेकिन मुझे पता नहीं क्यों पत्तों का रंग पीला पड़ता नजर आ रहा था!

हम उस युग में प्रवेश कर चुके हैं जहां आजकल के छात्रों ने एक ऐसी दुनिया बना ली है, जिसमें वो अकेले और बेसुध अपने में खोए हुए-से हैं। जहां एक कभी ना खत्म होने वाला आलस्यपन है और जहां उनकी वर्चुअल दुनिया तो दौड़ रही है लेकिन वास्तविक जीवन में ठहरे हुए हैं। मैं थोड़ी देर रुककर उनकी ओर देखने लगा पर मानो उनको किसी से मतलब नहीं था। जब मैं उनकी क्लास में पहुंचा तो करीब पचास के आसपास उनकी उपस्थिति थी। मुझे ऐसा लगा कि उनमें से अधिकांश मानो बिस्तर से सीधे उठाकर क्लास में आ गए थे। उनके चेहरे पर कोई भाव ही नहीं था। ना वो हंस रहे थे और ना उदास ही थे। बस मेरी हर बात पर हां में हां मिलाते जा रहे थे। मैंने सोचा कि क्यों नहीं उनको कोई प्रश्न पूछने के लिए कुछ प्रोत्साहित किया जाए। पर वो तो मानो सुकरात को ही पराजित कर रहे थे। ना कोई प्रश्न और ना कोई

उत्तर की इच्छा। सबसे ज्यादा आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब उनमें से बहुत से छात्रों के पास कॉपी और पेन भी नहीं था। बस सॉरी कहते गए और बगले झांकते रहे।

शायद वो मुझे यह कहना चाह रहे थे कि 'की फर्क पैंदा' यानी क्या फर्क पड़ता है? कुछ ऐसा ही उनके प्रोफेसर्स ने क्लास में कहा। क्योंकि मेरी पिछली क्लास उनके प्रोफेसर्स की थी। अधिकांश प्रोफेसर्स के एक ही प्रश्न थे कि छात्रों को एथिकल कैसे बनाया जाए, उन्हें पढ़ने के प्रति सीरियस कैसे किया जाए, उन्हें क्लास में कैसे बुलाया जाए, उनसे होमवर्क कैसे करवाया जाए क्योंकि पचास की कक्षा में पांच से ज्यादा छात्र पढ़ाई या किसी प्रोजेक्ट को करने में दिलचस्पी नहीं दिखाते हैं।

मुझे अधिकांश प्रोफेसर्स छात्रों के इस तरह के एटीट्यूड से परेशान दिखे। ऐसे में सवाल यह है कि एआई और तमाम तरह के बदलाव के बीच कॉलेजों में छात्रों का इस प्रकार का एटीट्यूड क्यों हो रहा है? पढ़ाई के प्रति बढ़ती यह अरुचि क्यों? वे कॉलेज तो आते हैं पर क्लास में क्यों नहीं जाना चाहते? और वे इतना बेफिक्र क्यों रहते हैं? यह किस तरह की भाव-शून्यता है? क्या वे उस नौकरी के लिए खुद को तैयार कर रहे हैं, जो उनसे उस इमोशनल इंटेलिजेंस की आशा करेगी, जो उनके टीम और स्वयं के प्रबंधन में मददगार बन सके ?

शायद यह इसलिए है कि अब शिक्षण संस्थान, खासकर निजी संस्थान 'स्टूडेंट ड्रिवन' हो चुके हैं। अब वे 'टीचर्स ड्रिवन' नहीं रहे। छात्रों को लगता है कि उन्होंने भारी-भरकम फीस दी है, इसलिए ग्राहक सेवा के दौर में वे भी किसी चलते-फिरते भगवान से कम नहीं हैं। यह कॉलेज की जिम्मेदारी है कि वह उनका खयाल रखे और उनकी बोझिल आदतों को भी झेले। और उनको अच्छी कंपनी में प्लेसमेंट भी कराना कॉलेज का ही कर्तव्य है। ऐसे में मुझे याद आए युवाल हरारी, जो यह मानते हैं कि 21वीं शताब्दी में वही टिक सकता है जिसमे इमोशनल इंटेलिजेंस हो। वो कहते भी हैं, यह हमारी 21वीं सदी हमसे ऐसी आशा कर रही है जो किसी भी पिछले युग से अलग हैं। आज के व्यक्ति को जीवित रहने और आगे बढ़ने के लिए अनुकूलनशीलता और लचीलेपन के कौशल की आवश्यकता होगी। लेकिन उन युवाओं को देखकर मुझे ऐसा लगा कि मेटा और एआई ने उन्हें ना इमोशनल ही रहने दिया है और ना इंटेलीजेंट ही । और तो और एडमिशन का टारगेट पूरा करने में पूरा सिस्टम ही स्टूडेंट ड्रिवेन बनता जा रहा है।

घर से कॉलेज निकले युवा को माता-पिता कुछ बनाने की कोशिश में हैं और उधर कॉलेज का शिक्षक इस बात से परेशान है कि कैसे शत-प्रतिशत 'कस्टमर सैटिस्फेक्शन' प्रदान करें। तो क्या छात्र भी अब किसी शिक्षण संस्था के लिए ग्राहक सदृश हो गए हैं? ऐसे में पढ़ाई की संस्कृति या शिक्षण संस्थाओं की भूमिका तो फिर बाजार के नियम ही तय करेंगे। और बाजार में तो बस तीन ही तरह के लोग होते हैं, क्रेता, विक्रेता और ग्राहक।

दैनिक जागरण

Date:10-05-24

संसदीय प्रणाली की समस्याएं

आर. विक्रम सिंह, (लेखक पूर्व सैन्य अधिकारी एवं पूर्व प्रशासक हैं)

देश में निर्वाचन पर्व चल रहा है। संभावना है कि एक दल की सरकार पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आएगी। पूर्ण बहुमत की सरकारें वास्तव में हमारी संसदीय प्रणाली का ऐसा उच्चतम शिखर हैं, जो अपने स्वरूप में राष्ट्रपति प्रणाली वाली शासन पद्धति की अनुभूति कराती है। राष्ट्रपति व्यवस्था में आम जनता सीधे राष्ट्रपति के लिए वोट डालती है। हमारी व्यवस्था संसदीय है, किंतु व्यवहार में वह राष्ट्रपति वाली है। हम नरेन्द्र मोदी को ही प्रत्येक चुनाव क्षेत्र में लड़ते हुए देख रहे हैं। भाजपा नेता उन्हीं के नाम पर वोट मांग रहे हैं। एक समय नेहरू जी और इंदिरा जी के नाम पर वोट मांगे जाते थे। यह व्यवस्था अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव जैसी ही है। जैसे नेहरू जी देश में कहीं से भी लड़कर चुनाव जीत सकते थे, वैसे ही आज मोदी भी कहीं से भी लड़कर जीत सकते हैं।

बीते सात दशकों में देश ने संसदीय प्रणाली अनुभव लिया है। इसकी सीमाएं स्पष्ट हो रही हैं। उसमें कुछ अस्थिरता के लक्षण होते हैं, जबकि विकास के लिए स्थिरता आवश्यक है। सीमित आबादी एवं सीमित क्षेत्रफल के एक भाषाभाषी, एक सांस्कृतिक धार्मिक क्षेत्रीय स्वरूप के यूरोपीय देशों में संसदीय या वेस्टमिंस्टर प्रणाली सुविधाजनक व्यवस्था हो सकती है, किंतु भारत जैसे देश में जहां बहुलताएं हैं और इन बहुलताओं को राष्ट्रीयता के एक धागे में पिरोए रखना एक मूलभूत राष्ट्रीय आवश्यकता है, वहां देश में अमेरिकी प्रणाली पर भी एक बहस की जरूरत लग रही है। संसदीय प्रणाली के प्रारंभ में हमने नेहरू और इंदिरा जैसे सशक्त प्रधानमंत्री देखे हैं तो कालांतर में वीपी सिंह, चंद्रशेखर, देवेगौड़ा, चरण सिंह, इंद्रकुमार गुजराल जैसे कमजोर एवं मजबूर प्रधानमंत्री भी देखे। गठबंधनों के माध्यम से किसी प्रकार अपनी सरकार को बचाए रखना ही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। कश्मीरी हिंदुओं के पलायन को रोकने में असहाय वीपी सिंह की प्राथमिकता अल्पसंख्यक राजनीति थी। राजीव गांधी को जैसे ही भनक लगी कि चंद्रशेखर रामजन्मभूमि मामले में समझौता कराने के निकट हैं तो उन्होंने समर्थन वापस लेकर सरकार गिरा दी। देश ने मनमोहन सिंह जैसे गठबंधन धर्म को मजबूरी बताने वाले प्रधानमंत्री भी देखे हैं।

राष्ट्रपतीय प्रणाली में बंधुआ राष्ट्रपति नहीं हो सकते। इसमें वैकल्पिक या गैरजिम्मेदार सत्ता केंद्र का विकास असंभव है। संसदीय प्रणाली के साथ समस्या यह है कि उसे राष्ट्रीय नेताओं की आवश्यकता नहीं है। देश का प्रधानमंत्री वही होगा, जिसके पक्ष में अधिकतम सांसद लामबंद हों। इसके लिए बहुत से दलीय हितों के घात-प्रतिघात, क्षेत्रीय एवं व्यक्तिगत स्वार्थों के समायोजन की योग्यता अपेक्षित है। राजीव गांधी, देवेगौड़ा, गुजराल और मनमोहन सिंह आदि का संघर्ष से उपजा राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं था। गठबंधन सरकारों ने देश को अपने कद एवं क्षमता के अनुरूप खड़ा ही होने नहीं दिया। नेहरू गठबंधन राजनीति के दबाव से मुक्त थे। इसका उपयोग उन्होंने समाजवादी विकास माडल को ढालने में और पंचवर्षीय योजनाओं में लगाया। इस प्रकार देश को एक सशक्त औद्योगिक आधार देने का काम किया। वर्तमान में नरेन्द्र मोदी भी गठबंधन के दबाव की मजबूरियों से मुक्त हैं। इसका परिणाम हम पिछले दस वर्षों में प्रभावशाली हो रहे भारत के रूप में देख रहे हैं। इन दोनों नेताओं का राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय व्यक्तित्व ऐसा रहा कि उन्होंने प्रधानमंत्री पद की सीमाओं से आगे जाकर उसे गरिमा प्रदान की। हम इसकी अनदेखी नहीं कर सकते कि गठबंधन सरकार चलाने वाले अधिकांश प्रधानमंत्रियों को तरह-तरह के समझौते करने पड़े।

हमारे यहां सक्षम राष्ट्रीय नेताओं के अभाव का मुख्य कारण यह है कि संसदीय प्रणाली राष्ट्रीय नेतृत्व के विकास की अपेक्षा ही नहीं करती। इसी कारण कुछ ऐसे नेता एकाएक प्रधानमंत्री बन गए, जिनकी देश ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। आखिर किसने सोचा होगा कि देवेगौड़ा, गुजराल या मनमोहन सिंह कभी प्रधानमंत्री बनेंगे। गठबंधन सरकारें वास्तव

में राजनीतिक सौदेबाजी करने वाले क्षत्रपों के लिए ही हितकारी होती हैं, जबकि 140 करोड़ की आबादी का विशाल देश ऐसी व्यवस्था चाहता है, जो उसकी समग्र शक्ति एवं क्षमताओं को अभिव्यक्ति दे सके। इसीलिए देश को पूर्ण बहुमत की सशक्त सरकार की अपेक्षा होती है। ऐसी ही सरकार राष्ट्रीय हित से जुड़े दायित्वों एवं लक्ष्यों को पूर्ण करने में समर्थ होती है। भारतीय लोकतंत्र अपनी समस्त शक्ति एकत्रित कर अपने आदर्श नेतृत्व को अधिक से अधिक जितना अधिकार दे सकता है, वह एक अमेरिकी राष्ट्रपति को स्वाभाविक रूप से उपलब्ध है। संसदीय प्रणाली में गठबंधन राजनीति, राजनीतिक जोड़तोड़ की कमजोरियां बाहरी दखल की आशंकाएं बढ़ाते हैं। हमारा देश तो स्वयं इसका मुक्तभोगी रहा है। मित्रोखिन आर्काइव्स भारतीय राजनीति में सोवियत संघ के दखल का आंख खोलने वाला दस्तावेज है।

राष्ट्रपति प्रणाली जादू की छड़ी भी नहीं है, जो तत्काल सब कुछ सुधार देगी। इसलिए व्यवस्था के चौकीदारों को जागते रहना आवश्यक है। संसदीय प्रणाली सत्ता में भागीदारी की संभावना बढ़ाती है, लेकिन हमारे यहां जाति, संप्रदाय, क्षेत्रीय समूहों, दबंगों और भ्रष्टतंत्र के हितसाधकों एवं अलगाववादियों की भागीदारी बढ़ाने लगती है। कई क्षेत्रीय दलों में तो समग्र राष्ट्रीय दृष्टि होती भी नहीं है। भारत की अखंडता उनके लिए महत्व का मुद्दा नहीं बनती। वे कई बार तो विदेश नीति को भी अपने हिसाब से चलाने की कोशिश करते हैं। चूंकि राष्ट्रपति प्रणाली देश के नागरिकों से सक्षम राष्ट्रीय नेतृत्व विकसित करने की अपेक्षा करती है इसलिए देश को उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक जोड़ने वाले नेतृत्व के सक्षम चरित्र राष्ट्रीय फलक पर दिखने लगेंगे। उनकी संस्कृति की, भाषा की समझ बेहतर होगी। वे कभी बंगाल में, कभी तमिलनाडु में, कभी वनवासियों तो कभी तमिल मछुआरों के बीच रहने वाले होंगे। तब देश में वह राष्ट्रीय कर्मठ एवं समर्पित नेतृत्व आकार लेगा, जिसकी दृष्टि समस्त देश को समाहित किए हुए होगी। अच्छा होगा कि राजनीतिक खानदानों और क्षत्रपों के दिन चले जाएं। देश का ध्यान अपनी ओर खींचने वाला कोई नेता जब राष्ट्रपति शैली में चुनाव लड़ेगा तो देश के गांव-गांव में उन्हें वोट देने वाले मिलेंगे और फिर राष्ट्रीय नेतृत्व के विकास की राह स्वाभाविक रूप से प्रशस्त होगी।

Date:10-05-24

चुनाव का अर्थ सिर्फ प्रतिनिधि चुनना नहीं

राघवेंद्र प्रसाद तिवारी, (लेखक पंजाब केंद्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा के कुलपति हैं)

इस समय 18वीं लोकसभा के गठन के लिए चुनाव प्रक्रिया जारी है। राजनीतिक दल मतदाताओं को लुभाने के लिए तमाम घोषणाएं और उम्मीदवारों का चयन कर रहे हैं। ऐसे में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दृष्टि से लोकतंत्र को सशक्त बनाने के लिए चुनाव से संबंधित समस्त पहलुओं पर समग्रता से चिंतन-मनन करने का यह अनुकूल समय है। इस संदर्भ में दो यक्ष प्रश्न हमारे विचार-प्रक्रिया के केंद्रबिंदु में होने चाहिए। क्या उम्मीदवारों के चयन के लिए 'जीतने की क्षमता' एकमात्र मानदंड होना चाहिए? क्या मतदाताओं को प्रतिनिधियों को केवल स्वीकारने या अस्वीकारने के लिए मतदान करना चाहिए अथवा इससे परे विचार कर मताधिकार का प्रयोग करना चाहिए? सार्वजनिक जीवन में अनुभव, सद्कार्यों के जरिये जनता में लोकप्रियता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, पारदर्शिता, जन कल्याण के लिए प्रतिबद्धता एवं राष्ट्रहित आदि गुणों के आधार पर उम्मीदवारों का चयन होना चाहिए। निर्वाचित प्रतिनिधियों को विकास के एजेंडा के

निर्धारण एवं क्रियान्वयन में सक्षम होना चाहिए। उनमें समावेशी एवं सतत विकास के लिए जरूरी विमर्श में जनआकांक्षाओं को रेखांकित करने की क्षमता होनी चाहिए।

असल में चुनाव मतदाताओं के लिए कई विकल्प खोलते हैं। उनसे पता चलता है कि कौनसा राजनीतिक दल समसामयिक विषयों पर बेहतर कानून बना सकता है, लोककल्याण के लिए बेहतर निर्णय ले सकता है, समावेशी एवं टिकाऊ सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए नीतियां एवं कार्यक्रम बनाकर उन्हें प्रभावी ढंग से लागू कर सकता है। किस राजनीतिक दल में संसद एवं संसद के बाहर जनआकांक्षाओं को सर्वोत्तम तरीके से अभिव्यक्त करने का कौशल है। कौनसा दल वैश्विक शांति के लिए अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रभावित कर सकता है। यह भी देखना चाहिए कि कौनसे राजनीतिक दल राष्ट्रहित के मुद्दों को ताक पर रखकर मुफ्तखोरी की संस्कृति, जाति, संप्रदाय, धनबल, बाहुबल एवं अन्य प्रभावों के माध्यम से मतदाताओं को लुभा रहे हैं। चुनाव वास्तविक अर्थों में जनता के लिए राजनीतिक दलों द्वारा अपने घोषणा पत्रों में प्रस्तावित विभिन्न माडलों के बीच ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सुरक्षा, पर्यावरणीय, सामाजिक, भावनात्मक, नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, विदेश नीति एवं राष्ट्रहित आदि विषयों पर सहमति या असहमति व्यक्त करने का अवसर होते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा प्रस्तुत इन विषयों से संबंधित सर्वोत्तम माडल को ही जनप्रतिनिधियों के चयन में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इससे जन एवं राष्ट्र-कल्याण के लिए नीति निर्माण एवं कार्यक्रमों के संदर्भ में राजनीतिक दलों के बीच स्वस्थ प्रतिस्पर्धा पनपेगी। चुनाव अभियानों के दौरान राजनीतिक दलों एवं उम्मीदवारों का इन बिंदुओं पर ही मूल्यांकन होना चाहिए। लोक कल्याण के लिए तत्पर, निष्पक्ष तरीके से सुशासन करने की क्षमता एवं राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मंचों पर नीतियों के बारे में सोचने तथा नवाचार करने की क्षमता ही उम्मीदवारों के चयन के लिए राजनीतिक दलों के साथ मतदाताओं की भी प्रमुखता होनी चाहिए।

सार्वजनिक जीवन में जो लोग पुनः चयनित होना चाहते हैं, उन्हें जनता को लोकतंत्र और चुनावों के स्वस्थ तरीकों के बारे में शिक्षित करना चाहिए। प्रचार के दौरान उन्हें विकास एवं सुशासन का वैकल्पिक माडल पेश करना चाहिए तथा अपने पूर्व-प्रदर्शन के मूल्यांकन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करना चाहिए। प्रबुद्ध समाज को भी सभी दलों के उम्मीदवारों के लिए साझा मंच उपलब्ध कराने चाहिए, जहां सघन विमर्श के द्वारा जनमानस राष्ट्रीय महत्व के बिंदुओं पर उनके सोच-समझ के आधार पर समुचित निर्णय ले सकें। राजनीतिक दलों को सही उम्मीदवारों के चयन के लिए बेहतर मानदंड चुनने के लिए बाध्य करने में नोटा सहायक नहीं है। राजनीतिक दलों ने इस प्रविधान से कतई सीख नहीं ली है। पाल टैमब्या नामक विद्वान का मत है कि 'मतदान कोई विवाह नहीं है। यह एक सार्वजनिक परिवहन है। आप उसकी प्रतीक्षा नहीं कर रहे हैं। आप बस में चढ़ रहे हैं और यदि कोई बस आपके गंतव्य तक नहीं जा रही है, तो आप घर पर बैठकर उदास नहीं होते। आप वह बस चुनते हैं, जो आपको आपके गंतव्य के सबसे नजदीक ले जाए।' इसका तात्पर्य है कि सर्वोत्तम विकल्प चुनाव से दूर रहना नहीं, अपितु ऐसे उम्मीदवारों का चयन है, जिसकी रीति-नीति आपके जीवन-मूल्यों के सन्निकट हो। इस संदर्भ में मतदाताओं को जागरूक करने के लिए मीडिया सार्थक भूमिका अदा कर सकता है। वह उन मुद्दों को रेखांकित करे, जिनसे जनमानस प्रभावित होते हैं और जिनसे उपलब्ध विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करने में जनता को मदद मिले।

अक्सर कुछ लोग यह सोचकर मतदान करने से बचते हैं कि मेरा वोट कोई महत्व नहीं रखता। यह रवैया सही नहीं है। मतदान के अधिकार का प्रयोग न करने से अयोग्य उम्मीदवार एवं अक्षम सरकार बनने की आशंका बढ़ जाती है एवं लोकतांत्रिक प्रणाली अव्यवस्था की शिकार होती है, जिसकी कीमत सभी को चुकानी पड़ती है। तथ्य यह है कि मतदान अधिकार के साथ ही राष्ट्रधर्म भी है। अनेक राष्ट्र-नायकों ने भारत को लोकतंत्र की जननी बनाने के लिए बलिदान दिया

है। मतदान कर हम उनके जीवन मूल्यों को जीवंत करते हैं। ऐसी सद्भावनाएं ही हमें मतदान के लिए प्रेरित कर सुयोग्य सरकार के गठन में अधिकतम जनभागीदारी सुनिश्चित करेंगी। वास्तव में यह संसदीय चुनाव भारत के लिए दुनिया के समक्ष अनुकरणीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया एवं राष्ट्रधर्म के उच्चतम आदर्श स्थापित करने का अवसर है, जिससे यह भावना दृढ़ हो जाए कि निःसंदेह भारत ही लोकतंत्र की जननी है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:10-05-24

चिप से बढ़ेगी डिजिटल ढांचे की ताकत

विनायक चटर्जी, (लेखक आधारभूत ढांचा क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं। साथ में अचिंत्य तिवारी और वृंदा सिंह)

नई दिल्ली के भारत मंडपम में आयोजित बिज़नेस स्टैंडर्ड मंथन कार्यक्रम में 27 मार्च, 2024 को सूचना-प्रौद्योगिकी, संचार एवं रेल मंत्री अश्विनी वैष्णव ने कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर चर्चा की। वैष्णव ने कहा कि दुनिया में सेमीकंडक्टर का बाजार इस समय 75 अरब डॉलर का है, जो अगले 6-7 वर्षों में दोगुना हो सकता है। उन्होंने कहा कि भारत खास मकसद से अपनी क्षमताएं विकसित करने पर ध्यान केंद्रित कर रहा है।

उन्होंने दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि तकनीक में रुचि रखने वाले लोग आसानी से मिलने, हरित ऊर्जा की उपलब्धता और विशेष रसायन विनिर्माण तंत्र ऐसे कारक हैं जो भारत के पक्ष में जाते हैं। तीसरी अहम बात उन्होंने यह कही कि भारत पूर्ण मूल्य श्रृंखला (वैल्यू चेन) में एक बड़ी हिस्सेदारी हासिल करने का लक्ष्य लेकर चल रहा है। इनमें नई चिप से लेकर इनका ढांचा तैयार करने एवं इनकी जांच कर इन्हें फैब्रिकेशन (विनिर्माण) संयंत्र तक ले जाना शामिल हैं। चौथी बात उन्होंने यह कही कि भारत अपनी आर्थिक सुरक्षा मजबूत करने के उद्देश्य से भी इस दिशा में कदम बढ़ा रहा है।

वैष्णव की टिप्पणी ऐसे समय में आई जब वैश्विक मंच पर हलचल तेज हो गई है। अमेरिका का वाणिज्य विभाग चिप निर्माण के लिए 39 अरब डॉलर के अनुदान की पुनर्संरचना कर रहा है। ऐसा समझा जाता है कि अमेरिका ताइवान सेमीकंडक्टर मैन्युफैक्चरिंग कंपनी (टीएसएमसी) को 11.6 अरब डॉलर का अनुदान देगा। इस रकम के साथ चिप बनाने वाली दुनिया की इस शीर्ष कंपनी को अमेरिका में अपनी पैठ बढ़ाने में मदद मिलेगी। अमेरिकी अनुदान के लिए अन्य कंपनियां भी कतार में खड़ी हैं जिनमें इंटेल, सिक्योर इंक्लेव, ग्लोबल फाउंड्रीज, माइक्रोचिप टेक, बीएई सिस्टम्स सहित कुछ अन्य शामिल हैं। जापान और यूरोपीय संघ भी ऐसे ही कदम उठा रहे हैं।

भारत में सरकार ने 'डेवलपमेंट ऑफ सेमीकंडक्टर्स ऐंड डिस्प्ले मैन्युफैक्चरिंग ईकोसिस्ट्मस इन इंडिया'नीति के तहत सेमीकंडक्टर इकाइयों की स्थापना को मंजूरी दी है। यह नीति 21 दिसंबर 2021 को अधिसूचित हुई थी और 76,000 करोड़ रुपये आवंटित हुए थे। इस नीति का मकसद भारत को आत्मनिर्भर और इलेक्ट्रॉनिक सिस्टम के ढांचा एवं विनिर्माण का एक वैश्विक केंद्र बनाना है। इस क्षेत्र में निवेश आकर्षित करने के लिए केंद्र सरकार परियोजना लागत का

50 फीसदी हिस्सा वित्तीय मदद के रूप में देगी। यह नीति विशेष तौर पर सेमीकंडक्टर फैब्रिकेशन यूनिट, डिस्प्ले फैब्स और कम्पाउंड सेमीकंडक्टर, सिलिकन फोटोनिक्स, सेंसर्स और असेंबली एवं टेस्टिंग संयंत्र की स्थापना के लिए वित्तीय प्रोत्साहन देगी।

राज्य सरकारें भी इस दिशा में आगे कदम बढ़ा रही हैं। उदाहरण के लिए केंद्र सरकार से 50 फीसदी समर्थन के अलावा गुजरात सरकार ने टाटा की परियोजना के लिए 20 फीसदी पूंजी समर्थन देने का वादा किया है। टाटा जैसी कई परियोजनाएं इस नीति के अंतर्गत काम कर रही हैं। गुजरात के साणंद में माइक्रॉन की असेंबली एवं टेस्टिंग संयंत्र ने सितंबर 2023 में निर्माण शुरू किया था। टाटा इलेक्ट्रॉनिक्स गुजरात के धोलेरा में 91,000 करोड़ रुपये निवेश से एक सेमीकंडक्टर फैब स्थापित करने की तैयारी कर रही है। कंपनी ताइवान की पावरचिप सेमीकंडक्टर मैन्युफैक्चरिंग कॉर्प (पीएसएमसी) के साथ साझेदारी कर रही है। टाटा सेमीकंडक्टर असेंबली ऐंड टेस्ट (टीएसएटी) प्राइवेट लिमिटेड की अगुवाई में दूसरी परियोजना के तहत असम के मोरीगांव में 27,000 करोड़ रुपये के साथ पैकेजिंग एवं टेस्टिंग संयंत्र की स्थापना की जाएगी। एक अन्य कंपनी सीजी पावर, रेनेसां इलेक्ट्रॉनिक्स कॉर्पोरेशन और स्टार्स माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक्स के साथ मिलकर गुजरात के साणंद में 7,600 करोड़ रुपये निवेश के साथ असेंबली एवं टेस्टिंग संयंत्र की स्थापना करेगी। टाटा-पीएसएमसी प्रस्ताव एकमात्र ऐसा फैब्रिकेशन संयंत्र है जिसे अब तक सरकार की मंजूरी मिली है। यह भी समझा जा रहा है कि दुनिया के कुछ अन्य देश भारत में प्रवेश करने की रणनीति (स्थान और स्थानीय साझेदार की तलाश) को अंतिम रूप देने के लिए सरकार के साथ बातचीत कर रहे हैं।

तकनीक एवं इलेक्ट्रॉनिक्स के लिहाज से बात करें तो चिप और सेमीकंडक्टर का एक दूसरे से गहरा रिश्ता है मगर ये एक जैसे नहीं हैं। सेमीकंडक्टर एक प्रकार की ऐसी सामग्री होती है जो बिजली के चालक और कुचालक के बीच की श्रेणी है। दूसरी तरफ इंटीग्रेटेड सर्किट (आईसी) या माइक्रोचिप को चिप कहते हैं। यह एक छोटा सेमीकंडक्टर होता है जिस पर हजारों या लाखों छोटे इलेक्ट्रॉनिक कलपुर्जे जैसे ट्रांजिस्टर, कैपेसिटर और रेसिस्टर तैयार किए जाते हैं। ये कलपुर्जे एक विशेष कार्य- जैसे कंप्यूटर में डेटा प्रोसेसिंग या इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों को नियंत्रित करना- पूरे करने के लिए एक दूसरे से जुड़े होते हैं। चिप काफी पेचीदा उत्पाद होते हैं जिन्हें बनाना आसान नहीं होता है। फैब्रिकेशन विशिष्ट संयंत्रों में होता है जिन्हें सेमीकंडक्टर फैब्रिकेशन संयंत्र या 'फैब' के नाम से जाना जाता है। इन संयंत्रों में फोटोलिथोग्राफी, एचिंग (निक्षारण), डोपिंग और मेटलाइजेशन की मदद से सिलिकॉन वेफर पर चिप का भौतिक ढांचा तैयार किया जाता है।

इस कार्य में तकनीक की गहरी समझ की जरूरत होती है। इसके अलावा लागत के स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने से एक ऐसी अलग किस्म की आपूर्ति व्यवस्था तैयार हो गई है, जिसमें कुछ ही कंपनियां हैं। सेमीकंडक्टर इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों को डेटा प्रोसेस, स्टोर और ट्रांसमिट करने के लिए आवश्यक क्षमताओं से लैस करता है। ये एकीकृत सर्किट होते हैं जो सिलिकॉन से बने होते हैं। कुछ वर्ग मिलीमीटर में अरबों इलेक्ट्रॉनिक पुर्जों की पैकिंग से ये सर्किट तैयार होते हैं। हमारे इर्द-गिर्द जितनी भी इलेक्ट्रॉनिक वस्तुएं हैं उन सभी के लिए चिप महत्त्वपूर्ण होते हैं। स्मार्टफोन, सर्वर, आधुनिक कारें, मशीनरी एवं ऑटोमेशन, महत्त्वपूर्ण ढांचे और यहां तक कि रक्षा प्रणाली, सभी में चिप की मौजूदगी होती है। भारत में चिप की मांग अधिक है मगर यह सुस्त उपभोक्ता देश है और भू-राजनीतिक तनाव से आपूर्ति व्यवस्था को होने वाले नुकसान की जद में आ सकता है। उदाहरण के लिए कोविड-19 के दौरान चिप की कमी और हुआवे पर अमेरिकी प्रतिबंध बाहरी आपूर्तिकर्ताओं पर भारत की निर्भरता को रेखांकित करती हैं। फिलहाल भारत सेमीकंडक्टर का आयात (100 फीसदी) करता है। मिल रहे संकेतों के अनुसार आयात का आंकड़ा साल 2030 तक बढ़कर 110 अरब डॉलर तक पहुंच सकता है। इसे देखते हुए अति महत्त्वपूर्ण एवं उच्च-तकनीक वाले इलेक्ट्रॉनिक विनिर्माण में 'आत्मनिर्भर भारत' के अनुरूप

सेमीकंडक्टर आपूर्ति व्यवस्था का स्थानीयकरण करना जरूरी हो गया है। स्पष्ट रूप से भारत सरकार ने इसके लिए कई निर्णायक कदम उठाए हैं।

साल 2019 के शुरू में सरकार ने सेमीकंडक्टर फैब्रिकेशन संयंत्रों को 'आधारभूत दर्जा' दे दिया था। ऐसा पहली बार था जब एक विनिर्माण संयंत्र आधारभूत ढांचे की आधिकारिक परिभाषा में शामिल किया गया था। पूंजीगत सब्सिडी आवंटन की प्रक्रिया अगला तर्कसंगत कदम थी। इस उद्योग की संवेदनशीलता, वैश्विक, तकनीकी एवं निवेश संबंधी चुनौतियों को देखते हुए सरकार को दिलचस्पी दिखाने वाली संभावित इकाइयों की जरूरतें पूरी करने के लिए पूंजी सब्सिडी फंड का आकार बढ़ाना एक उपयुक्त विकल्प लग सकता है। देश कुछ और कंपनियों के साथ अपने डिजिटल ढांचे को और ताकत देने के लिए तैयार है।

जनसत्ता

Date:10-05-24

लापरवाही की आग

संपादकीय

उतराखंड के जंगलों में लगी आग से हर वर्ष भारी नुकसान होता है। मगर लगातार ऐसी घटना के बावजूद सरकार और संबंधित महकमों को इस बात की सुध लेने की जरूरत नहीं लगती कि इसे रोकने के लिए क्या इंतजाम किए जाएं। जंगल में आग लगने से बचाव की फिक्र में औपचारिक तौर पर जो कदम उठाए जाते हैं, उसकी हकीकत इसी से समझी जा सकती है कि इस वर्ष फिर नैनीताल के आसपास के जंगल में लगी आग की वजह से बड़े क्षेत्र में भारी नुकसान हुआ। पिछले कई दिनों से वहां आग पर काबू पाने के लिए हेलिकाप्टर के प्रयोग सहित कई अन्य उपाय आजमाए जा रहे हैं। जाहिर है, फिलहाल सबसे पहली प्राथमिकता जंगल क्षेत्रों में लगी आग को फैलने से रोकना और बुझाना है, ताकि नुकसान का दायरा कम किया जा सके। इसलिए यह देखने की जरूरत है कि पहाड़ी इलाकों में स्थानीय जरूरतों के अनुकूल किस तरीके से आग को बुझाया जा सकता है। मगर इतना तय है कि जिन इलाकों में जंगल धधक रहे हैं, उनमें वन संरक्षण के लिए तैनात कर्मचारियों ने शायद अपनी ड्यूटी ठीक से निभाई होती तो समस्या को गंभीर शक्ल लेने से रोका जा सकता था।

सवाल है कि धधकते जंगलों के संकट की जिम्मेदारी तय करना कब संभव हो सकेगा ! फिलहाल आग बुझाने के काम में लापरवाही बरतने के आरोप में दस वनकर्मियों के निलंबन के साथ कुल सत्रह लोगों के खिलाफ कार्रवाई की गई है। माना जाता है कि जलवायु में बढ़ते तापमान और पर्यावरण असंतुलन की वजह से दुनिया भर के जंगलों में आग लग जाती है और उसमें व्यापक पैमाने पर जानमाल का नुकसान होता है। मगर इसके समांतर वनाग्नि की कुछ घटनाएं ऐसी भी हैं, जिनमें वन संरक्षण की ड्यूटी में तैनात कर्मचारी और अधिकारियों ने सही समय पर आग से बचाव के लिए पर्याप्त कदम नहीं उठाया। यह भी खबर आई कि वहां कुछ उत्पाती तत्त्वों को जंगल में आग लगाने के आरोप में गिरफ्तार किया गया। इससे यह पता चलता है कि जंगल में आग लगने की घटनाएं केवल प्राकृतिक ही नहीं है, बल्कि इसमें कुछ

अपराधी तत्व भी शामिल हैं। जाहिर है, वनाग्नि की घटनाओं से निपटने के लिए सरकार को सभी चिह्नित पहलुओं के मद्देनजर ठोस कदम उठाने की जरूरत है।

राष्ट्रीय सहारा

Date:10-05-24

समय का खेल

संपादकीय

भारतीय विविधताओं के बारे में कांग्रेस के प्रिय 'फिलास्फर' सैम पित्रोदा की महादेशीय उपमाएं घोर नस्लीय लगी हैं। वे सत्ताधारी दल गठबंधन के साथ खुद कांग्रेस को इस हद तक अरुचिकर और नागवार लगीं कि पार्टी ने उनसे किनारा करने में ही भलाई समझी। सैम को इंडियन ओवरसीज के अध्यक्ष पद से तत्काल इस्तीफा देना पड़ा। पर कांग्रेस से उनका रिश्ता अभी बना हुआ है। सैम ने दो मई को एक इंटरव्यू में कहा था: 'हम भारत जैसे विविधता से भरे देश को एकजुट रख सकते हैं, जहां पूरब में रहने वाले लोग दिखने में चीनी जैसे, पश्चिम में रहने वाले अरब जैसे, उत्तर में रहने वाले गोरों की तरह और दक्षिण में रहने वाले अफ्रीकी जैसे लगते हैं, लेकिन इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। हम सब आपस में भाई-बहन हैं।' सैम के वक्तव्य में आपत्तिजनक क्या है? जिन लोगों ने भारत के इतिहास का, समाजों का, उनके नृतात्विक विवेचनों को पढ़ा है, और उनका भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी किया है, उन्हें यह मालूम है कि अपना देश मूलतः छह नस्लों का सांस लेता एक रंग-बिरंगा समुच्चय है। इनका चेहरा-मोहरा और बोली - बानी भले अलग हैं पर वे सब मिलाकर समूचे भारतीय हैं। विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर, जिनकी अभी दो दिन पहले ही जयंती मनाई गई है, उन्होंने भी यही कहा-'यहां आर्य हैं, अनार्य हैं, यहां द्रविड़ और चीन मूल के लोग हैं। शक हूण, पठान, मोगल सब एक ही शरीर यानी भारत में लीन हो गए हैं।' ये सब मिलकर हमारी ताकत बन गए हैं। राष्ट्रगीत तक में भौगोलिकता के इसी वैविध्यता का गुणगान - बखान हुआ है। देश में इतनी रची-पगी, प्रौढ़ एवं सर्वमान्य-सर्वस्वीकृत विविधताओं के बावजूद कांग्रेस परेशान हो गई या उसे कर दिया गया? इसलिए कि चुनाव का समय है। कांग्रेस इस बार भाजपा एवं उसके नेता नरेन्द्र मोदी को कड़ी टक्कर देने में लगी है। ऐसे में वह उन उपमाओं का स्वागत नहीं कर सकती, जिनमें दुश्मन (चीन), आक्रमणकारी मुगलिया सल्तनतों, गुलाम बनाने वाले गोरों और गरीबी के पर्याय अफ्रीकी 'जैसी' साम्यता दिखाई गई है। यह माना कि सैम के कई बयान विगत में कांग्रेस के लिए मुश्किलात पैदा करते रहे हैं। इसकी एक वजह संवाद की शैलीगत कमी भी हो सकती है। उपमाएं अपनी बात या स्थिति स्पष्ट करने के लिए दी जाती हैं। उनका निहितार्थ यही होता है।

Date:10-05-24

अपने बॉस खुद बनें

रजनीश कपूर

एक दौर था जब पढ़ाई-लिखाई पूरी करने के बाद हर युवक को नौकरी या व्यवसाय में प्रवेश करना ही पड़ता था। फिर शुरू होती थी उनके जीवन में 9 से 5 की दिनचर्या । जैसे-जैसे समय बदला नौकरी और व्यापार के माहौल में भी बदलाव आए, लेकिन जब से कवि की महामारी आई उसने दुनिया भर में 'वर्क फ्रॉम होम' का चलन शुरू कर दिया। दुनिया भर में सूचना प्रौद्योगिकी की क्रांति के बाद, आज हर किसी के हाथ में एक स्मार्टफोन देखा जा सकता है और मेज पर कंप्यूटर । इस क्रांति ने दुनिया भर के हर कोने में व्यक्तियों को एक दूसरे से जोड़ दिया है। आज अधिकतर युवा और प्रोफेशनल किसी की नौकरी करना पसंद नहीं करते। वे खुद के ही बॉस बनने में विश्वास रखते हैं। ऐसे काम करने वालों को 'गिग वर्कर्स' कहा जाता है।

आम तौर पर 'उबर' 'ओला' जैसी टैक्सी चलाने वाले या खाना व अन्य वस्तुएं डिलीवर करने वालों को 'गिग वर्कर' माना जाता है, परंतु ऐसा सोचना सही नहीं है। आज के दौर में हर वो व्यक्ति या प्रोफेशनल जो किसी भी कंपनी में मासिक वेतन की सूची में नहीं है, परंतु वो किसी न किसी कंपनी के लिए कुछ न कुछ कार्य कर रहा है वो 'गिग वर्कर' की श्रेणी में आता है। फिर वो चाहे पत्रकार हो, वकील हो, आर्किटेक्ट हो, लेखक हो, फोटोग्राफर हो, वेब डिजाइनर हो या अन्य कोई भी हो, जो भी किसी बड़ी या छोटी कंपनी या संस्था के लिए एक विशेष प्रोजेक्ट पर कार्य कर रहा है वो गिग वर्कर, फ्रीलांसर या सलाहकार की श्रेणी में ही आता है। ऐसा करने से उस कंपनी को भी अपने वैतनिक कर्मचारी की संख्या बढ़ानी नहीं पड़ती। ऐसे में 'गिग वर्कर' उस कंपनी के न सिर्फ ऊपरी खर्च भी घटाते हैं बल्कि कार्य कुशलता के साथ उस प्रोजेक्ट या असाइनमेंट को पूरा भी करते हैं । 'गिग वर्कर' होने के कई फायदे भी हैं। ऐसा कार्य करने वाला हर व्यक्ति अपनी मर्जी का मालिक होता है। जब भी मन करे वो काम पर हो सकता है और जब भी मन करे वो छुट्टी पर हो सकता है। उसे किसी से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती। यदि आप इस श्रेणी में आने वाली महिला हैं और आपके घर में एक छोटा बच्चा है जिसे आपकी देखभाल की जरूरत है, तो आप अपने बच्चे की दिनचर्या पूरी कर, उसे सुलाने के बाद अपने कंप्यूटर की मदद से 'ऑनलाइन' आ सकती है। हां, ऐसे में आपकी सेवा केवल वही कंपनी लेंगी जिनका उस समय काम का समय होगा। ऐसे में 'एक पंथ दो काज' बड़े आराम से हो सकते हैं और आप घर बैठे दुनिया के किसी भी कोने में अपनी क्षमता अनुसार किसी कंपनी को अपनी सेवा दे सकते हैं। मुझे याद है जब 2013 में मैं दुबई गया था वहां टैक्सी चलाने वाले एक दक्षिण भारतीय से पूछा कि दुबई में काम करने के लिए अधिकतर लोग भारत या अन्य देशों से ही आते हैं। इन्हें दुबई में काम करने पर कैसा माहौल मिलता है? वो काफी संतुष्टि से बोला कि हम बहुत सुखी हैं। यहां की सरकार हमारा बहुत ध्यान रखती है। हम अच्छा पैसा कमाते हैं। जब मैंने उससे उसकी औसत कमाई पूछी तो उसने बताया करीब एक लाख रुपए कमा लेता हूं। जैसे ही मैने उसकी तनख्वाह पूछी तो वह बोला कि हमें प्रति किलोमीटर कमीशन मिलती है। हम अधिक से अधिक समय गाड़ी चलाना पसंद करते हैं। जब मन करता है ड्यूटी ऑफ कर लेते हैं। कुछ ही वर्षों बाद जब से भारत में 'उबर' 'ओला' की टैक्सियों का चलन बढ़ने लगा तो इनके ड्राइवरों से भी

कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया मिली। आज भारत में ऐप से चलने वाली कई टैक्सी सेवाएं हैं जो आपको कभी भी और कहीं भी ले जा सकती हैं। जिस तरह आज आपको घर बैठे ही कुछ भी सामान, कभी भी और कहीं भी मंगाना हो तो आप झट से अपने स्मार्ट फ़ोन की मदद से उसे उपलब्ध करा लेते है। ऐसा तभी संभव होता है कि क्योंकि इसे कामयाब करने के लिए ऐसे लाखों 'गिग वर्कर्स' एक फौज दुनिया भर में तैनात है और हर दिन इसमें बढ़ोतरी हो रही है। ज्यादातर लोग 'गिग वर्कर्स' को टैक्सी चलाने वाले और सामान डिलीवर करने वाले ही समझते हैं। परंतु ऐसा नहीं है। आंकड़ों के अनुसार अमरीका जैसे देश में 5.73 करोड़ 'गिग वर्कर' हैं।

एक अनुमान के तहत 2027 आते-आते अमेरिका में काम करने वालों की 50 प्रतिशत संख्या 'गिग वर्कर्स' की होगी। भारत की ही बात करें तो 2021 में ही 'गिग वर्कर्स' की संख्या करीब 1.5 करोड़ थी जो हर दिन बढ़ती जा रही है। एक शोध के अनुसार 2023 के अंत तक दुनिया भर की अर्थ व्यवस्था में 'गिग वर्कर' के जरिये करीब 45.5 करोड़ डॉलर का योगदान हुआ। दुनिया भर में ऐसे कई प्लेटफार्म है जो 'गिग वर्कर' को ऐसी कई कंपनियों या व्यक्तियों से जोड़ते हैं जो मासिक तनख्वाह पाने वाले कर्मचारी नहीं रखना चाहते। इसलिए यदि आप अपने लिए घर बैठे ही कोई रोजगार देख रहे हैं तो आप इस विषय में भी सोचें कि 'गिग वर्कर' बन कर आप न सिर्फ स्वयं के बॉस बन सकते हैं बल्कि अपनी मर्जी अनुसार काम पर आ जा सकते हैं। यदि आपको अपने लिए व अपनों के लिए समय निकालना है तो 'गिग वर्कर' एक अच्छा विकल्प साबित हो सकता है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date:10-05-24

युवाओं की ज्यादा परवाह का समय

राज कुमार सिंह, (वरिष्ठ पत्रकार)

इसी साल फरवरी के अंतिम रविवार को अपने 'मन की बात' कार्यक्रम के 110वें संस्करण में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 18 साल की उम्र पूरी करने पर नए बने मतदाताओं से यह आह्वान किया था कि वे 18वीं लोकसभा चुनने के लिए बड़ी संख्या में मतदान करें। प्रधानमंत्री ने चुनाव आयोग के अभियान 'मेरा पहला वोट देश के लिए' की भी प्रशंसा की थी, पर हाल ही में 18 वर्ष के होने वाले युवाओं पर इस सबका ज्यादा असर नजर नहीं आता। 18वीं लोकसभा के लिए सात चरणों में मतदान हो रहा है। 19 अप्रैल को मतदान के पहले चरण से कुछ ही दिन पहले यह आंकड़ा आया कि देश भर में 18-19 आयु वर्ग के युवाओं के मतदाता बनने का प्रतिशत 40 से भी कम है। देश में इस आयु वर्ग के मतदाताओं की अनुमानित आबादी 4.9 करोड़ है, पर 1.8 करोड़, यानी 38 प्रतिशत ने ही खुद को मतदाता के रूप में पंजीकृत कराया है। यह आंकड़ा वर्ष 2014 में खुद को मतदाता के रूप में पंजीकृत कराने वाले इसी आयु वर्ग के नौजवानों से 1.9 प्रतिशत कम है।

राजनीतिक दल भी इससे इनकार तो नहीं करते कि युवा ही वास्तव में किसी देश का भविष्य होते हैं। तब क्या भारत के युवाओं में मतदाता बनने के प्रति ही ऐसी उदासीनता को गंभीर संकेत नहीं माना जाना चाहिए? मतदान तो अगला कदम है। मतदाता बनने के प्रति उदासीनता के राज्यवार आंकड़े भी सवाल खड़े करते हैं। मसलन, देश का दिल कही जाने वाली दिल्ली में 18 से 19 आयु वर्ग के युवाओं के मतदाता बनने का प्रतिशत मात्र 21 है। राजनीतिक रूप से सजग और सक्रिय माने जाने वाले बिहार में तो यह 17 प्रतिशत पर ही अटक गया। देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में भी इस आयु वर्ग के 23 प्रतिशत युवाओं ने ही मतदाता बनने में दिलचस्पी दिखाई। अपेक्षाकृत नए राज्य तेलंगाना के आंकड़े अवश्य उत्साहवर्द्धक हैं, जहां इसी आयु वर्ग के 66.7 प्रतिशत युवाओं ने मतदाता के रूप में खुद को पंजीकृत कराया है। अरसे से आतंकवाद और अलगाववाद झेल रहा जम्मू-कश्मीर भी इस मामले में प्रशंसा का पात्र है, जहां 62 प्रतिशत नौजवानों ने मतदाता बनने में दिलचस्पी दिखाई है। हिमाचल प्रदेश, ओडिशा, पश्चिम बंगाल और केरल में यह प्रतिशत क्रमश: 60, 49, 48 और 38 रहा। जाहिर है, कम मतदाता बनने का सीधा असर चुनाव प्रक्रिया के जरिये युवाओं की भागीदारी पर भी पड़ेगा।

चुनाव प्रक्रिया में युवाओं की घटती दिलचस्पी के जो कारण जानकार बताते हैं, वे दरअसल हमारी राजनीति को ही कठघरे में खड़ा करने वाले हैं। मसलन, उम्रदराज राजनीतिक नेतृत्व में युवाओं को अपना प्रतिनिधित्व और अपनी आकांक्षाओं का प्रतिबिंब नहीं दिखता। चुनाव प्रक्रिया में युवाओं की घटती दिलचस्पी तब और भी चौंकाने वाली है, जब देखें कि 2014 के लोकसभा चुनाव में युवाओं ने बढ़-चढ़कर मतदान किया था। एक आंकड़े के मुताबिक, 2014 के लोकसभा चुनाव में 18 से 25 आयु वर्ग के युवाओं ने शेष आबादी की तुलना में कहीं ज्यादा 70 प्रतिशत तक मतदान किया था। चुनाव प्रक्रिया पर नजर रखनेवाले मानते हैं कि तब भाजपा की जीत में भी निर्णायक भूमिका युवाओं ने ही निभाई थी। 2019 के लोकसभा चुनाव में भी युवा पीछे नहीं रहे। फिर अब युवाओं का चुनाव प्रक्रिया से मोहभंग क्यों नजर आ रहा है? वास्तविक कारण तो युवाओं के बीच किसी व्यापक सर्वेक्षण से ही पता चल सकता है, पर देश-काल-परिवेश के मद्देनजर उसका अनुमान लगाने की कोशिश की जा सकती है। तत्कालीन सरकार पर भ्रष्टाचार और नीतिगत जड़ता के गंभीर आरोपों के बीच हुए 2014 के लोकसभा चुनाव में बड़े पैमाने पर नौकरियां देने का वायदा किया गया था, पर आज भी लाखों सरकारी पद खाली पड़े हैं।

युवाओं के वोट की चाह रखने वाली हर पार्टी को यह भी दिखना चाहिए कि युवाओं की चिंता क्या है? अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की 2024 की रिपोर्ट बताती है कि कुल मिलाकर 83 प्रतिशत युवा बेरोजगार हैं। आयु वर्ग की बात करें, तो राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय (एनएसएसओ) के आवधिक श्रम बल सर्वे (पीएलएफएस) के आंकड़े बताते हैं कि जुलाई, 2022 से जून, 2023 के बीच नौकरी तलाश कर रहे 17 साल के युवाओं का प्रतिशत 16.8, 18 साल के युवाओं का प्रतिशत 28.5 और 19 साल के युवाओं का प्रतिशत 31.3 था। इसी सर्वेक्षण के मुताबिक, पहली बार मतदान करने वालों की श्रम बल भागीदारी 29.7 प्रतिशत थी, यानी उनमें से 70 प्रतिशत के पास कोई रोजगार नहीं था। ऐसे में, युवाओं की चुनाव प्रक्रिया से कुछ दूरी बहुत चौंकाती तो नहीं, पर सवाल अवश्य खड़े करती है। पिछले कई सालों से भारत को युवाओं का देश कहा जा रहा है। भारत की जनसंख्या 144 करोड़ हो जाने पर आई संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष (यूएनएफपीए) की रिपोर्ट बताती है कि रोजगार की दृष्टि से युवा यानी 18 से 35 वर्ष के बीच की आबादी की बात करें, तो उसका आंकड़ा 60 करोड़ के आसपास बैठता है। दिल्ली में तो 45 प्रतिशत मतदाता 40 साल से कम उम्र के हैं।

आर्थिक उदारीकरण के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था की तेज विकास दर की कहानी खुद आंकड़े बयान करते हैं। भारत का विश्व की पांचवीं बड़ी अर्थव्यवस्था बन जाना निश्चय ही गर्व की बात है। ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता कि हमारे

राजनीतिक दल युवा मतदाताओं का महत्व नहीं समझते हैं। कमोबेश सभी राजनीतिक दलों के विभिन्न नामों से जारी चुनाव घोषणापत्रों में युवाओं के लिए लुभावनी घोषणाएं हैं। फिर भी, युवाओं में मतदान के प्रति दिलचस्पी घट रही है, तो सभी दलों को सोचना होगा। बेशक यह स्थिति राजनीतिक नेतृत्व से भी आत्म-विश्लेषण की मांग करती है, लेकिन देश सिर्फ राजनीतिक दलों-नेताओं का नहीं है। देश की सही दिशा के लिए जरूरी है कि दलों-नेताओं की दिशा भी सही रखी जाए। हालात मोहभंग से नहीं, मनोबल से ही बदले जा सकते हैं। मतदान अधिकार ही नहीं, हर नागरिक का कर्तव्य भी है। स्वामी विवेकानंद ने युवाओं के लिए ही कहा था : उठो, जागो और तब तक मत रुको, जब तक मंजिल प्राप्त न हो जाए।